

समकालीन हिन्दी आलोचना में डॉ० शेरसिंह बिष्ट का योगदान

भवान सिंह

शोधार्थी एम०बी०रा० स्नात० महाविद्यालय हल्द्वानी (नैनीताल) उत्तराखण्ड

समकालीन हिन्दी आलोचना का तात्पर्य है कि वर्तमान में लिखी जा रही कृतियों की नई दृष्टि से, नये सन्दर्भों में, नये मानकों के आधार पर विश्लेषण एवं मूल्यांकन। इस तरह की समीक्षाएँ नवलेखन के फलस्वरूप सामने आयी हैं। वृहत् हिन्दी कोश के अनुसार समकालीन का अर्थ है—“एक समय में रहने या होने वाला।”¹ अर्थात् एक समय में घटित होने वाली। समकालीन हिन्दी आलोचना समाज और सौन्दर्य की नवीन धारणाओं का स्वागत और समर्थन करती है। समकालीन आलोचना अपनी एक अलग पहचान रखती है आलोचना के क्षेत्र में दृष्टि की व्यापकता की माँग हमेशा ही रही है। आलोचना के दूसरे अनुशासनों के निकट ले जाने की माँग भी उन्हीं क्षेत्रों में विशेष रूप से की गयी है।

नवलेखनों से सम्बद्ध समस्याओं पर वर्तमान में नये आलोचकों ने अपनी दृष्टि से विचार प्रस्तुत किये हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० रामदरश मिश्र लिखते हैं—“आज की समीक्षा में...स.ही. वात्सायन, देवराज, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही आदि समय-समय पर अपने ढंग से नवलेखन सम्बन्धी प्रश्नों को समझाने का प्रयास कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे समीक्षक हैं जो सिद्धान्त स्थापन के फेर में न पड़कर कृतियों के नये मूल्यों और छवियों के उद्घाटन में व्यस्त हैं। इनमें अधिकांश सर्जक हैं यानि पेशेवर समीक्षक नहीं हैं।”²

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य रचनाकारों पर डा० बिष्ट ने गम्भीर समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार डा० शेरसिंह बिष्ट समकालीन आलोचना के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में अपनी पहचान बना चुके हैं। “साहित्य और समालोचना” एवं “समीक्षा की कसौटी” पर नामक दनके वृहत् आलोचनात्मक ग्रन्थों ने आलोचना जगत में उल्लेखनीय उपस्थिति दर्ज की है।³

डॉ० शेरसिंह बिष्ट का आलोचना के क्षेत्र में मौलिक योगदान रहा है। उन्होंने ‘झाँसी की रानी’ का तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं समकालीन जीवन का विविध मानवीय सन्दर्भों का विवेचन एवं विश्लेषण किया है। निःसन्देह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित इस काव्यकृति में समाहित विविध सांस्कृतिक संदर्भों की समीक्षा की है। डॉ० बिष्ट एक संतुलित

वैचारिकता से सम्पन्न आलोचक हैं। उनकी आलोचना पद्धति पाठक को उपदेश-आदेश नहीं देती, बल्कि काव्यत्व का बोध कराती है, और शंकालु के बजाय जिज्ञासु बनाती है। उनकी आलोचना पद्धति मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। उनकी आलोचना यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक सरोकारों पर भी आधारित है। उनकी आलोचना परंपरागत आधुनिक विमर्शों और बहसों पर भी आधारित है। आलोचना के मानक-निर्धारण पर अपनी राय व्यक्त करते हुए डॉ० शेरसिंह बिष्ट लिखते हैं कि मौलिकता और नवीनता के नाम पर अपने अलग-अलग चूल्हे से बेहतर है कि जिन-जिन आचार्यों, समीक्षकों तथा आलोचकों ने समय-समय पर साहित्य आलोचना विषयक जो-जो तत्व खोज निकाले हैं, अपनी गुणवत्ता के आधार पर यथावत् अथवा अपेक्षित संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया जाय।

डॉ० शेरसिंह बिष्ट ने भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए उनकी सीमाओं को भी रेखांकित किया है। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त रस सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए उनके व्यावहारिक पक्ष का भी तार्किक मूल्यांकन किया है। उनका रस सिद्धान्त विषयक निरूपण तथा उसकी सीमाओं का मूल्यांकन संक्षेप में इस प्रकार है। वे लिखते हैं— “काव्यानंद का ही दूसरा नाम ‘रस’ है।” इस प्रकार आलोचना के प्रारम्भिक दौर में ‘रस’ ही काव्य का प्रमुख मूल्य या मानदण्ड बन गया अर्थात् जिस रचना को पढ़ने अथवा सुनने से आनन्द की प्राप्ति होती है, वहीं साहित्यिक रचना मानी जा सकती है। इससे इतर यदि कोई कविता या कृति प्रकाश में आती है तो वह कोरा शब्दजाल या अनर्गल प्रलाप ही कहलाएगा। ‘रस’ नामक यह मूल्य एक प्रकार से किसी रचना को पढ़ने अथवा सुनने से उत्पन्न प्रभावात्मक प्रतिक्रिया पर आधारित था।⁴

रचना और आलोचना के संबंध में वे लिखते हैं—“निराला की राम की शक्तिपूजा’, पन्त की ‘परिवर्तन’ और मुक्तिबोध की ‘अंधेरें’ में कविताएँ अलग-अलग भावभूमि पर रचित श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। तीनों अपनी विषय-वस्तु के कारण श्रेष्ठ नहीं हैं। उनकी श्रेष्ठता का मुख्य आधार अपने विषय का प्रामाणिक रूप में प्रस्तुतीकरण है। उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का भी काव्य समीक्षा के सापेक्ष मौलिक चिन्तन एवं मूल्यांकन किया है। उनकी स्पष्ट

मान्यता है कि साहित्य समाज के पीछे चलता है और समाज के अनुसार ही उसकी दिशा तय होती है।

प्राचीन काल से अभी तक यह मान्यता चली आ रही है कि साहित्य समाज का दर्पण है। डॉ० शेरसिंह बिष्ट ने परंपरा से चली आ रही इस उक्ति का हिन्दी साहित्य के इतिहास के सापेक्ष मूल्यांकन करते हुए तार्किक दृष्टि से इसका खण्डन किया है। वे लिखते हैं संस्कृति का प्रमुख अंग समाज है। यह कहा जाता रहा है कि वास्तव में समाज का ही साहित्य में चित्रण होता है। इसलिए यह उक्ति चल पड़ी है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' ⁵ वास्तव में यह उक्ति पूरी तरह सत्य नहीं है। 'दर्पण' का तात्पर्य तो यह है कि उसके सामने जैसा है, ठीक वैसा ही प्रतिबिम्बित करना। साहित्य ऐसा दर्पण नहीं है। साहित्य एक सीमा तक समाज से प्रभावित होता है और समाज को भी प्रभावित करता है। समाज के अलावा साहित्य को प्रभावित करने वाली चीजें बहुत सी होती हैं, जैसे साहित्यिक रुढ़ियों तथा परंपराएँ, धार्मिक एवं दार्शनिक परंपराएँ एवं तत्कालीन समाज और राजनीतिक परिस्थितियाँ, लेखक का निजी व्यक्तित्व।

हिन्दी साहित्य की पूरी विकास यात्रा इस बात का प्रमाण है कि उसमें कहीं भी समाज के अन्तर्बाह्य रूप का प्रतिबिम्बात्मक चित्रण नहीं हुआ है। अतः 'साहित्य समाज का दर्पण है', कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता। किसी भी युग के साहित्य से इस तरह की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती है कि वह अपने समाज का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत कर सके। साहित्यकार के लिये समाज साधन है, साध्य नहीं। इस साधन का प्रयोग कौन रचनाकार किस रूप में करता है, यह उसकी अभिरुचि, उद्देश्य एवं रचनाधर्मिता पर निर्भर करता है, जिसके लिए वह स्वतंत्र है।

डॉ० शेरसिंह बिष्ट के अनुसार मध्यकालीन सम्पूर्ण भक्ति साहित्य को भी एक ही तुला पर नहीं तौला जा सकता। ईश्वर के सगुण अथवा निर्गुण रूप पर आधारित भक्ति काव्य दो अलग-अलग जीवन दृष्टियों पर आधारित काव्य है। डॉ० बिष्ट -अवैदिक अथवा नास्तिक धर्म के विरोध में वैदिक धर्म की रक्षा के लिये शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त की स्थापना की। अलौकिक प्रतिभाशाली शंकराचार्य ने भारतीय दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। शंकराचार्य के अनुसार माया विशिष्ट ब्रह्म ही 'ईश्वर' है और वही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है। जिस प्रकार एक ही मकड़ी, जालरूप कार्य के प्रति स्वयं ही निमित्त एवं उपादान कारण है अथवा ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि के लिये निमित्त एवं उपादान कारण है। अतः ब्रह्म एक ऐन्द्रजालिक की तरह है। ब्रह्म और जगत् में समुद्र और उसकी लहरों की तरह अभेद होते हुए भी व्यावहारिक भेद है।" यदि ब्रह्म में अज्ञान के

अस्तित्व को स्वीकारा जाये तो ब्रह्म के अद्वैत रूप की रक्षा नहीं हो पायेगी, क्योंकि तब ब्रह्म अज्ञानग्रस्त हो जायेगा।

डॉ० शेरसिंह बिष्ट के अनुसार भक्ति के आलम्बन का माध्यम दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ भी हैं। इस बात को 'भक्तिकालीन काव्य के आदर्श एवं यथार्थ' निबन्ध में तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया गया है— आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल। आदिकाल का मुख्य धारा का साहित्य दरबारी साहित्य रहा है, जो प्रायः चारण कवियों द्वारा अपने आश्रयदाता राजाओं को प्रसन्न करने के लिए लिखा गया। राजनीतिक दृष्टि से तब भारत पराधीन नहीं था। सभी गणराज्य स्वयं में स्वतंत्र थे। मुख्यधारा से इतर साहित्य धार्मिक साहित्य है जो सिद्ध-नाथ पंथियों तथा जैन मुनियों द्वारा अपने-अपने पंथ के धार्मिक प्रचार के लिए लिखा गया। आदिकाल के काव्य का एक केन्द्र राजदरबार था तो दूसरा धार्मिक मठ-मंदिर। विषय-वस्तु की दृष्टि से मुख्यधारा के साहित्य का वर्ण्य-विषय राजा-रजवाड़ों का अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशस्तिगान, युद्ध-वर्णन, नायक-नायिकाओं का उददाम वासनामय प्रेम-निरूपण था। इस कारण मुख्यधारा के साहित्य में श्रृंगार, वीर, द्र, भयानक, वीभत्स, करुण आदि रसों का होना स्वाभाविक था।⁶

छायावाद के सन्दर्भ में डॉ० शेरसिंह बिष्ट ने नई दृष्टि से मौलिक चिन्तन किया है। रीतिवाद तथा छायावाद के अन्तर्विरोध एवं मतवैभिन्य आदि का नये सन्दर्भ में मूल्यांकन एवं विश्लेषण किया है। इस युग में गद्य का पर्याप्तप्रचार हुआ। इस कारण यह 'गद्य-युग' भी कहलाया। आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य की दो प्रमुख विधाओं-गद्य एवं पद्य में समानान्तर रूप से प्रचुर मात्रा में साहित्य सृजन होने लगा। इससे पूर्व आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक केवल पद्य में ही साहित्य सृजन हो रहा था। इस युग में गद्य ने प्रमुख रूप से गति पकड़ी। विचित्र संयोग यह है कि भारतेन्दु युग से ही खड़ीबोली गद्य एवं पद्य साहित्य का प्रारम्भ हुआ। साहित्य में पद्य की रचना तो होती रही, लेकिन विभिन्न कारणों से गद्य को लोकप्रियता मिलती गयी। यद्यपि इससे पूर्व भी विचारों के आदान-प्रदान एवं आपसी बातचीत में गद्य का प्रयोग होता था, परन्तु साहित्य में गद्य का स्थान नहीं के बराबर था। आधुनिक काल में विभिन्न विधाओं के क्षेत्र में साहित्य-सृजन होने लगा।

डॉ० बिष्ट की दृष्टि में कि आचार्य शुक्ल ने छायावाद के दो अर्थ किये हैं— एक, रहस्यवाद के अर्थ में और दूसरा, काव्य शैली के अर्थ में। वे छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से भिन्न मानते हैं तथा रहस्यवाद को छायावाद का पर्यायवाची या उसी में अन्तर्भुक्त। उनकी दृष्टि में प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत कथन

छायावाद है। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छायावाद में मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में छायावादी कविता बाह्य ऐन्द्रियबोध तथा चेतन मन की सीमाओं को पार कर अचेतन के रहस्यलोक में पहुँचती है और जाने-अनजाने उसका मर्मोद्घाटन करती है। डॉ० बिष्ट ने छायावाद के सम्बन्ध में लिखा है “ जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परंपरा से जिनमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी, इस ढंग से अभिव्यक्ति

हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। ...उनके लिये नवीन शैली, नया पद-विन्यास आवश्यक था।”⁷

इस प्रकार डॉ० शेरसिंह बिष्ट समकालीन हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नये दृष्टि से साहित्य के बदलते सन्दर्भों में उसकी उपादेयता तथा साहित्य मूलबोध आदि पर विचार करते हुये आधुनिक हिन्दी साहित्य के संग्रह मूल्यांकन में उनकी प्रसांगिकता को रेखांकित किया गया है। वे कहते हैं कि समीक्षा की एक स्पष्ट दृष्टि होनी चाहिए।

सन्दर्भ:-

1. कालिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय, कुकुंदीलाल श्रीवास्तव – पृष्ठ सं० 1198
2. समीक्षा की कसौटी पर डॉ० शेरसिंह बिष्ट – पृष्ठ सं० 36
3. मेरा रचना संसार : पहचान और परख – पृष्ठ सं० 401
4. समीक्षा की कसौटी पर डॉ० शेरसिंह बिष्ट – पृष्ठ सं० 38
5. समीक्षा की कसौटी पर डॉ० शेरसिंह बिष्ट – पृष्ठ सं० 93
6. समीक्षा की कसौटी पर डॉ० शेरसिंह बिष्ट – पृष्ठ सं० 105
7. समीक्षा की कसौटी पर डॉ० शेरसिंह बिष्ट – पृष्ठ सं० 135